© May 2026 | IJIRT | Volume 12 Issue 12 | ISSN: 2349-6002

औपनिवेशिक भारत में पर्यावरण आंदोलनों का विकास एवं स्थानीय समुदायों की भूमिका

ज्ञान प्रकाश यादव[1], डॉ. सनोबर हैदर[2]
[1]लखनऊ विश्वविद्यालय
[2]प्रोफेसर, लखनऊ विश्वविद्यालय
doi.org/10.64643/IJIRTV12I12-201980-459

***सारांश*—औपनिवेशिक भारत में पर्यावरणीय संसाधनों का दोहन भारतीय समाज, विशेष रूप से ग्रामीण और आदिवासी समुदायों के जीवन पर नकारात्मक असर डालता रहा। ब्रिटिश शासन द्वारा लागू की गई वन नीतियाँ, व्यावसायिक कृषि, रेलवे का विस्तार और खनन गतिविधियाँ पारंपरिक संसाधन प्रबंधन प्रणालियों को विनष्ट करती गईं। इसके विरोध में विभिन्न क्षेत्रों में कई पर्यावरणीय आंदोलनों विकसित हुए, जिनमें स्थानीय समुदायों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यह शोधपत्र औपनिवेशिक युग में पर्यावरण आंदोलनों के विकास, उनके सामाजिक-आर्थिक कारणों और विशेष रूप से महिलाओं और आदिवासी समूहों की भागीदारी का विश्लेषण करता है। अध्ययन में यह स्पष्ट किया गया है कि ये आंदोलन केवल प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा तक ही सीमित नहीं थे, बल्कि इसमें सामाजिक न्याय, आजीविका, सांस्कृतिक पहचान और सामूहिक लोकतंत्र जैसे मुद्दे भी शामिल थे।**

***मुख्य शब्द*—औपनिवेशिक भारत, पर्यावरण आंदोलन, वन अधिनियम, स्थानीय समुदाय, आदिवासी प्रतिरोध, चिपको आंदोलन, पर्यावरण न्याय।**

I. प्रस्तावना

मानव और प्रकृति का संबंध भारतीय सभ्यता की नींव पर सदैव सह-अस्तित्व का आधार रहा है। भारतीय संस्कृति में वन, नदियाँ, पर्वत और जैव विविधता केवल संसाधन नहीं माने जाते, बल्कि ये जीवन के अभिन्न हिस्से हैं। हालांकि, जब औपनिवेशिक शासन स्थापित हुआ, तो प्रकृति के प्रति यह दृष्टिकोण बदल गया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने प्राकृतिक संसाधनों का इस्तेमाल आर्थिक लाभ और साम्राज्य के विस्तार के लिए किया। रेलवे के विकास, जहाज निर्माण, खनन, और व्यावसायिक कृषि के लिए वनों का बड़े पैमाने पर दोहन किया गया।[1] ब्रिटिश सरकार की वन नीतियों और वन अधिनियमों ने स्थानीय समुदायों के पारंपरिक अधिकारों पर अंकुश लगाया। 1878 का भारतीय वन अधिनियम इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसने वनों पर राज्य नियंत्रण स्थापित किया और गाँवों के निवासियों तथा आदिवासियों की पहुँच को सीमित कर दिया।[2] इस नीतिगत बदलाव ने स्थानीय समुदायों की आजीविका को संकट में डाल दिया,

[1] सुनीता फुलवारिया, “भारत में औपनिवेशिक काल का पर्यावरण पर प्रभाव: एक अध्ययन,” *International Journal of Arts & Education Research*, Vol. 10, No. 3, 2021

[2] मनीष कुमार गुप्ता, “भारतीय पर्यावरण आंदोलन का अध्ययन,” *Journal of Advances and Scholarly Research in Allied Education*, Vol. 10, No. 20, 2015।

जिसके परिणामस्वरूप व्यापक जन समर्थन के विरोध का आंदोलन शुरू हुआ। औपनिवेशिक भारत के पर्यावरण आंदोलन सिर्फ प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा के लिए नहीं थे, बल्कि इनका संबंध सामाजिक समानता, आर्थिक अधिकारों और सांस्कृतिक पहचान की रक्षा से भी था। रामचंद्र गुहा ने इन्हें "गरीबों का पर्यावरणवाद" के रूप में वर्णित किया है, क्योंकि इन आंदोलनों का नेतृत्व उन समुदायों ने किया, जिनकी जीवन-यापन प्रकृति पर निर्भर था।[3] यह शोध-पत्र औपनिवेशिक भारत में पर्यावरण आंदोलनों के विकास का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट करता है कि स्थानीय समुदायों ने किस प्रकार औपनिवेशिक नीतियों का प्रतिरोध किया तथा पर्यावरण संरक्षण की वैकल्पिक अवधारणा प्रस्तुत की।

II. औपनिवेशिक नीतियाँ और पर्यावरणीय संकट

ब्रिटिश शासन के तहत आर्थिक नीतियों का मुख्य लक्ष्य भारत के प्राकृतिक संसाधनों का अधिकतम उपयोग करना था। अंग्रेजों ने भारतीय वनों को राजस्व और औद्योगिक विकास के लिए एक महत्वपूर्ण संसाधन के रूप में देखा। रेलवे के विकास के लिए बड़ी मात्रा में लकड़ी की आवश्यकता पड़ी, जिसके चलते बड़े पैमाने पर वनों का विनाश हुआ।[4] वनों के दोहन को संस्थागत स्वरूप देने के लिए 1865 और 1878 के भारतीय वन अधिनियम लागू किए गए। इनमें से 1878 का अधिनियम खासतौर पर सख्त था। इस अधिनियम ने वनों को 'आरक्षित वन', 'संरक्षित वन', और 'ग्रामीण वन' के श्रेणीकरण में बांटा और स्थानीय समुदायों के पारंपरिक अधिकारों को सीमित कर दिया।[5] इसके परिणामस्वरूप, गांववासियों के लिए ईंधन, चारा, लकड़ी, और अन्य वन उपज हासिल करना मुश्किल हो गया। ब्रिटिश वन नीति का प्रभाव केवल पर्यावरण पर ही नहीं बल्कि आदिवासी और ग्रामीण समुदायों की सामाजिक संरचना पर भी पड़ा। स्थानीय समुदाय लंबे समय से सामुदायिक वन प्रबंधन प्रणाली के तहत वनों की देखभाल करते रहे थे, लेकिन औपनिवेशिक हस्तक्षेप ने इस प्रणाली को नष्ट कर दिया।[6] व्यावसायिक कृषि ने पर्यावरणीय समस्याओं को बढ़ावा दिया है। नील, चाय और कपास जैसी नकदी फसलों के उत्पादन के लिए बड़े पैमाने पर वनों की कटाई की गई। इसके परिणामस्वरूप भूमि की उपज विकसित करने की क्षमता में कमी आई, और जल संसाधनों पर भी दबाव बढ़ने लगा।[7] औद्योगिकीकरण और खनन कार्यों ने प्राकृतिक संतुलन पर गहरा असर डाला। कोयला और लौह अयस्क की खदानों के विस्तार ने आदिवासी क्षेत्रों में विस्थापन की समस्या को बढ़ा दिया इसके परिणामस्वरूप जल स्रोतों में प्रदूषण बढ़ गया, जिससे स्थानीय लोगों की पारंपरिक जीवनशैली संकट में पड़ गई।

III. औपनिवेशिक काल में पर्यावरण आंदोलनों का विकास

भारत में पर्यावरण संबंधी आंदोलनों का उभार औपनिवेशिक शासन की आर्थिक और प्रशासनिक नीतियों के खिलाफ प्रतिक्रिया के रूप में सामने आया। ब्रिटिश साम्राज्य के आने से पहले, भारतीय समाज में मानव और प्रकृति के बीच समरसता की

[3] रूपा मंगलानी एवं सहदेव सिंह चौधरी, "भारत के पर्यावरण संरक्षण में जन आंदोलनों का योगदान," *AIJRA*, Vol. 9, Issue 3A, 2015

[4] वही पृ. 5।

[5] मनीष कुमार गुप्ता, पूर्वोक्त।

[6] सुनीता फुलवारिया, पूर्वोक्त।

[7] मंगलानी एवं चौधरी, पूर्वोक्त।

एक समृद्ध परंपरा थी। वन, जल और भूमि केवल आर्थिक साधन नहीं थे, बल्कि ये सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन का अनिवार्य हिस्सा माने जाते थे। ग्रामीण और आदिवासी समुदायों ने सामुदायिक आधार पर प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण और उपयोग किया। हालाकि, जब औपनिवेशिक शासन काल शुरू हुआ, तो प्राकृतिक संसाधनों के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। अंग्रेजों ने भारतीय वनों, धरती और खनिजों को अपने साम्राज्यवादी स्वार्थों और आर्थिक लाभ के उपकरण के रूप में देखा। इसके परिणामस्वरूप ऐसी नीतियाँ बनाई गईं, जिन्होंने पर्यावरण संतुलन को बिगाड़ दिया और स्थानीय समुदायों के पारंपरिक अधिकारों का उल्लंघन किया। इन्ही परिस्थितियों के कारण आगे चलकर पर्यावरण आंदोलनों का जन्म हुआ।[8] ब्रिटिश शासन का प्रमुख लक्ष्य प्राकृतिक संसाधनों का संपूर्ण रूप से उपयोग करना था। इस अवधि के दौरान, रेलवे का विकास, जहाज निर्माण, खनन उद्योग में वृद्धि, और वाणिज्यिक कृषि के लिए बड़े पैमाने पर वनों की कटाई की गई। विशेष रूप से, रेलवे के स्लीपरों और जहाजों के निर्माण के लिए अत्यधिक मात्रा में लकड़ी की जरूरत थी, जिसके कारण भारत के कई वन क्षेत्र नष्ट हो गए। अंग्रेजों ने भारत में वन संसाधनों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए 1865 और 1878 में वन अधिनियमों को लागू किया। इनमें से 1878 का अधिनियम विशेष रूप से सख्त था। इस कानून के माध्यम से वनों को 'आरक्षित वन', 'संरक्षित वन' और 'ग्रामीण वन' के श्रेणियों में विभाजित किया गया, जिसका प्रभाव स्थानीय लोगों के पारंपरिक अधिकारों पर पड़ा। इसके द्वारा ग्रामीणों और आदिवासी समुदायों को लकड़ी, चारा, ईंधन और अन्य वन उत्पादों के उपयोग में से वंचित कर दिया गया। इन नीतियों का सबसे ज्यादा असर आदिवासी और ग्रामीण समुदायों पर पड़ा, क्योंकि उनकी आजीविका सीधे तौर पर जंगलों और प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर थी। जब अंग्रेजों ने वन क्षेत्रों को अपने नियंत्रण में लिया, तो स्थानीय समाज में असंतोष का माहौल बनने लगा। इसी असंतोष ने विभिन्न जन-आंदोलनों और विद्रोहों का रूप धारण किया। औपनिवेशिक काल के आरंभिक पर्यावरणीय प्रतिरोधों में संथाल विद्रोह (1855-56), नील आंदोलन (1859-60) और अन्य वन आंदोलनों को विशेष रूप से महत्वपूर्ण माना जाता है।

संथाल विद्रोह मुख्य रूप से भूमि और जंगली अधिकारों की सुरक्षा के लिए लड़ा गया। संथाल समुदाय की जीवनशैली वनों और कृषि के चारों ओर केंद्रित थी, लेकिन अंग्रेजों द्वारा लागू की गई भूमि-राजस्व व्यवस्था और महाजनी शोषण ने उनकी पारंपरिक जीवन पद्धति को खतरे में डाल दिया। इस विद्रोह में प्रकृति और आजीविका की रक्षा की गहरी भावना प्रकट होती है।[9] इसी तरह, बंगाल का नील आंदोलन भी औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों के खिलाफ किसानों का प्रतिरोध था। अंग्रेज नील उत्पादकों ने किसानों को मजबूरन नील की खेती करने के लिए विवश किया, जिससे भूमि की उर्वरता में कमी आई और खाद्य संकट उत्पन्न हुआ। इसके परिणामस्वरूप, किसानों ने इसका विरोध बड़े पैमाने पर किया।[10]

औपनिवेशिक दौर के पर्यावरणीय आंदोलनों का सबसे स्पष्ट रूप वन आंदोलनों के रूप में देखा जा सकता है। 1878 में लागू हुए वन अधिनियम के बाद, भारत के विभिन्न हिस्सों में आदिवासी और ग्रामीण समुदायों ने ब्रिटिश वन नीतियों के खिलाफ आवाज

[8] सुनीता फुलवारिया, पूर्वोक्त।

[9] रूपा मंगलानी एवं सहदेव सिंह चौधरी, पूर्वोक्त।

[10] मनीष कुमार गुप्ता, पूर्वोक्त।

उठाई। छोटा नागपुर, बस्तर, गुडेम-रामपा, मिदनापुर, और आदिलाबाद में बड़े पैमाने पर आंदोलनों किया गया। इन आंदोलनों का प्राथमिक लक्ष्य, स्थानीय समुदायों के पारंपरिक अधिकारों की सुरक्षा करना था, जो वन संसाधनों पर निर्भर थे।

1910 का बस्तर विद्रोह औपनिवेशिक वन नीतियों के खिलाफ एक प्रमुख आंदोलन था। बस्तर के आदिवासी लोगों को जंगलों से लकड़ियाँ, फल, चारा और अन्य संसाधनों को लेने से वंचित कर दिया गया। इसके साथ ही उन पर जबरन श्रम और भारी करों का बोझ भी डाल दिया गया, जिससे आदिवासियों में गहरा असंतोष पैदा हुआ और उन्होंने ब्रिटिश राज के खिलाफ विद्रोह कर दिया। इसी तरह, आंध्र प्रदेश में गुडेम-रामपा आंदोलन (1922-24) भी वन कानूनों के खिलाफ उठ खड़ा हुआ। इस आंदोलन का नेतृत्व अल्लूरी सीताराम राजू ने किया और आदिवासी समुदायों ने अंग्रेजों की दमनकारी नीतियों का सामना करते हुए जंगलों पर अपने अधिकारों की माँग की।

औपनिवेशिक काल के दौरान पर्यावरण आंदोलनों की एक प्रमुख पहचान स्थानीय समुदायों की सक्रिय भूमिका थी। जबकि पश्चिमी देशों में पर्यावरणवाद का नेतृत्व मुख्यतः वैज्ञानिकों और मध्यवर्ग के लोगों ने किया, भारत में यह आंदोलन ग्रामीणों, किसानों और आदिवासियों के हाथों में फला-फूला। इन आंदोलनों का ध्यान केवल प्रकृति के संरक्षण पर नहीं था, बल्कि यह आजीविका, सामाजिक न्याय और सांस्कृतिक पहचान से भी गहराई से जुड़ा था।

महिलाओं की भूमिका इन आंदोलनों में बेहद महत्वपूर्ण रही है। ग्रामीण महिलाएँ जल, जंगल और भूमि से सीधा जुड़ी हुई थीं। उन्हें ईंधन, चारा और जल इकट्ठा करने की जिम्मेदारी निभानी होती थी, जिससे पर्यावरणीय संकट का असर उन पर अधिक पड़ता था। राजस्थान का बिश्नोई आंदोलन इस संदर्भ का प्रारंभिक उदाहरण है। 1730 में, अमृता देवी बिश्नोई और उनके 363 साथी ग्रामीणों ने खेजड़ी के पेड़ों की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दी। उनका प्रसिद्ध कथन- "सिर साटे रूंख रहे तो भी सस्तो जाण" भारतीय पर्यावरण चेतना का एक महत्वपूर्ण प्रतीक बन गया।[11]

औपनिवेशिक काल के अंतिम चरण में महात्मा गांधी के विचारों ने पर्यावरण की चेतना को एक नया मोड़ दिया। उन्होंने प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण जीवन जीने, ग्राम स्वराज की अवधारणा और आत्मनिर्भरता पर जोर दिया। गांधीजी ने औद्योगिक सभ्यता और अंधाधुंध खपत की कड़ी निंदा की। उनका मानना था कि प्रकृति मानव की आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए पर्याप्त है, लेकिन उसके स्वार्थ को नहीं सहन कर सकती। इसके बाद के कई पर्यावरण आंदोलनों, खासकर चिपको आंदोलन, ने गांधीवादी अहिंसक प्रतिरोध की रणनीति को अपनाया।

औपनिवेशिक काल के दौरान पर्यावरण आंदोलनों ने भारतीय समाज में पर्यावरण के प्रति जागरूकता के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन आंदोलनों ने यह बताया कि प्राकृतिक संसाधनों पर पहला हक उन समुदायों का होना चाहिए, जो अपनी जीविका के लिए इन संसाधनों पर निर्भर करते हैं। इसके साथ ही, इन आंदोलनों ने औपनिवेशिक शासन की शोषणकारी नीतियों का विरोध किया और पर्यावरण न्याय की अवधारणा का निर्माण किया।

IV. स्थानीय समुदायों का महत्व

भारतीय पर्यावरण आंदोलनों की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि इनमें स्थानीय समुदायों की सक्रिय भूमिका रही। पश्चिमी देशों के मुकाबले, भारत में

[11] रूपा मंगलानी एवं सहदेव सिंह चौधरी, पूर्वोक्त।

पर्यावरण के प्रति जागरूकता का नेतृत्व वैज्ञानिकों या उच्च वर्ग के लोगों द्वारा नहीं, बल्कि ग्रामीणों, आदिवासियों और महिलाओं ने किया।

आदिवासी समुदायों की भूमिका

आदिवासी समाज की जीवनशैली वनों पर निर्भर थी। उनके लिए जंगलों से मिलने वाले संसाधन जैसे भोजन, ईंधन, औषधियों के साथ-साथ सांस्कृतिक पहचान भी शामिल थे। जब औपनिवेशिक नीतियों ने इन संसाधनों पर नियंत्रण स्थापित किया, तो आदिवासी समुदायों ने इसका विरोध करना शुरू कर दिया। विशेष रूप से बस्तर, छोटा नागपुर और झारखंड क्षेत्रों में, आदिवासियों ने सामूहिक विद्रोह किए। इन आंदोलनों का मुख्य उद्देश्य सिर्फ आर्थिक अधिकारों की प्राप्ति नहीं था, बल्कि अपनी सांस्कृतिक पहचान की रक्षा करना भी था।

ग्रामीण समुदायों का योगदान

ग्रामीण समुदायों ने पर्यावरणीय आंदोलनों को एक मजबूत आधार दिया है। किसानों ने वनों के व्यावसायिक दोहन के खिलाफ आवाज उठाई, क्योंकि यह उनकी जीवनशैली पर नकारात्मक प्रभाव डाल रहा था। पूना सार्वजनिक सभा ने 1878 के वन अधिनियम का विरोध करते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया कि जंगलों का प्रबंधन स्थानीय ग्रामीणों को सौंपा जाना चाहिए। गोविंद बल्लभ पंत ने अपनी पुस्तक 'कुमाऊँ की वन समस्या' में स्थानीय समुदायों द्वारा वन प्रबंधन को अपनाने की आवश्यकता पर जोर दिया। उनका विश्वास है कि अगर ग्रामीणों को वन संरक्षण में शामिल किया जाए, तो इससे पर्यावरण और समाज दोनों के लिए लाभ हासिल किया जा सकता है।

महिलाओं का योगदान

भारतीय पर्यावरण आंदोलनों में महिलाओं का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। ग्रामीण महिलाएँ जल, जंगल और भूमि से सीधे जुड़े होने के कारण इन संसाधनों के लिए जिम्मेदार होती थीं। इसलिए, जब पर्यावरणीय संकट आया, तब इसका सबसे ज्यादा प्रभाव महिलाओं पर पड़ा। राजस्थान के बिश्नोई आंदोलन में अमृता देवी और 363 ग्रामीणों ने पेड़ों की रक्षा के लिए बलिदान दिया। उनका यह प्रसिद्ध कथन - "सिर साटे रूंख रहे तो भी सस्तो जाण" - भारतीय पर्यावरण जागरूकता का एक प्रतीक बन गया। चिपको आंदोलन में गौरा देवी और अन्य महिलाओं ने पेड़ों को गले लगाकर उनकी कटाई का विरोध किया। यह आंदोलन केवल वन संरक्षण तक सीमित नहीं था, बल्कि यह महिलाओं की सामाजिक भागीदारी और पर्यावरण न्याय की भी एक महत्वपूर्ण पहल थी।

V. गांधीवादी विचारधारा और पर्यावरण आंदोलन

महात्मा गांधी ने संतुलित जीवन के लिए प्रकृति के महत्व को समझाया। उन्होंने औद्योगिक सभ्यता की आलोचना करते हुए ग्राम स्वराज और आत्मनिर्भरता पर जोर दिया। गांधीजी का यह मानना था कि प्रकृति सभी की आवश्यकताओं को पूरा कर सकती है, लेकिन व्यक्तिगत लालच को नहीं सहन कर सकती। इस सोच ने बाद में अनेक पर्यावरण आंदोलनों को प्रेरित किया, जिसमें चिपको आंदोलन जैसे कई अहिंसक संघर्ष शामिल हैं। रामचंद्र गुहा के अनुसार, गांधी को "प्रारंभिक पर्यावरणविद" कहा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने विकास और पर्यावरण के बीच संतुलन की आवश्यकता को समय से पहले ही पहचान लिया था।

VI. स्वतंत्रता के पश्चात पर्यावरणीय आंदोलनों का विकास

हालांकि औपनिवेशिक शासन का अंत हो चुका था, लेकिन विकास की नीतियों में औपनिवेशिक दृष्टिकोण का प्रभाव जारी रहा। बड़े बांधों, औद्योगिक परियोजनाओं और खनन गतिविधियों का सिलसिला थमा नहीं। इसी कारण, स्वतंत्रता के बाद भी पर्यावरण संबंधी आंदोलन सक्रियता से आगे बढ़ते रहे।

चिपको आंदोलन (1973)

उत्तराखंड के गढ़वाल क्षेत्र में शुरू हुआ चिपको आंदोलन भारतीय पर्यावरण के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मुकाम है। इसका मुख्य उद्देश्य वनों की व्यावसायिक लकड़ियों की कटाई को रोकना और स्थानीय लोगों के अधिकारों की रक्षा करना था। इस आंदोलन का नेतृत्व प्रमुख व्यक्तियों ने किया, जैसे कि सुंदरलाल बहुगुणा, चंडी प्रसाद भट्ट, और गौरा देवी। महिलाओं ने पेड़ों को अपने गले लगाकर ठेकेदारों को कटाई से रोकने का साहसिक कदम उठाया। इस आंदोलन की सफलता के नतीजे में 1980 में हिमालयी क्षेत्रों में वृक्षों की कटाई पर पाबंदी लगा दी गई।

साइलेंट वैली आंदोलन

यह आंदोलन केरल में एक प्रस्तावित जलविद्युत परियोजना के खिलाफ शुरु हुआ और यह जैव विविधता के संरक्षण का एक महत्वपूर्ण प्रतीक बन गया। यहां के स्थानीय वैज्ञानिकों, पर्यावरण कार्यकर्ताओं और समुदायों ने मिलकर इस आंदोलन को आगे बढ़ाया, जिसके फलस्वरूप परियोजना को रद्द कर दिया गया।

नर्मदा बचाओ आंदोलन

यह आंदोलन नर्मदा घाटी परियोजना के खिलाफ शुरू हुआ और इसने विस्थापन, पुनर्वास, और पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों जैसे मुद्दों को राष्ट्रीय स्तर पर उठाया। मेधा पाटकर और बाबा आम्टे की अगुवाई में, स्थानीय समुदायों ने बड़े बाँधों की विकास नीतियों को चुनौती दी।

VII. पर्यावरण आंदोलनों की विशेषताएँ

भारतीय पर्यावरण आंदोलनों की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित हैं -

स्थानीय समुदायों का योगदान: इन आंदोलनों की ताकत ग्रामीण और आदिवासी समुदायों में निहित थी।

अहिंसात्मक विरोध: गांधीजी की सत्याग्रह और नागरिक अवज्ञा की रणनीतियों का उपयोग किया गया।

पर्यावरण और आजीविका का अंतर्संबंध: ये आंदोलन सिर्फ प्राकृतिक संरक्षण तक सीमित नहीं थे, बल्कि यह आजीविका और सामाजिक न्याय से भी जुड़े थे।

महिलाओं की सक्रिय भागीदारी: महिलाओं ने महत्वपूर्ण नेतृत्व की भूमिका निभाई।

सतत विकास की धारणा: इन आंदोलनों ने विकास और पर्यावरण के बीच संतुलन बनाने पर जोर दिया।

VIII. पर्यावरण आंदोलनों का प्रभाव

भारतीय पर्यावरण आंदोलनों ने नीति और समाज के विभिन्न स्तरों पर गहरा प्रभाव डाला है। इन आंदोलनों ने पर्यावरण संरक्षण के प्रति व्यापक जागरूकता को बढ़ावा दिया है। इसके परिणामस्वरूप, वन संरक्षण अधिनियम (1980) और पर्यावरण संरक्षण अधिनियम (1986) जैसे कानूनी ढांचे

विकसित हुए। संविधान के 42वें संशोधन (1976) के द्वारा पर्यावरण की रक्षा को राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों और नागरिकों के कर्तव्यों में शामिल किया गया। इससे स्थानीय समुदायों के अधिकारों को संबल मिला और सहभागी लोकतंत्र की परिकल्पना को साकार करने का अवसर मिला। इसके साथ ही, पर्यावरण न्याय और जनहित याचिकाओं के माध्यम से न्यायपालिका की भूमिका भी मजबूत हुई।

IX. निष्कर्ष

औपनिवेशिक भारत में पर्यावरण आंदोलनों का उद्भव ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीतियों के खिलाफ एक प्रतिरोध के रूप में हुआ। वन अधिनियम, व्यावसायिक कृषि और औद्योगिकीकरण ने भारतीय समाज के पारंपरिक पर्यावरणीय संतुलन को बाधित किया। इस स्थिति का सामना करते हुए, ग्रामीणों, आदिवासियों और महिलाओं ने बड़े पैमाने पर जन-आंदोलनों को जन्म दिया। इन आंदोलनों ने यह दर्शाया कि पर्यावरण की सुरक्षा केवल प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण का मुद्दा नहीं है, बल्कि यह सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक पहचान और मानवाधिकारों से भी गहराई से जुड़ा हुआ है। भारतीय पर्यावरण आंदोलन की एक प्रमुख विशेषता यह रही कि यह “नीचे से ऊपर” की दिशा में विकसित हुआ। स्थानीय समुदायों ने न केवल औपनिवेशिक नीतियों का प्रतिरोध किया, बल्कि उन्होंने वैकल्पिक विकास के मॉडल की अवधारणा भी प्रस्तुत की।

वर्तमान में जब जलवायु परिवर्तन और पर्यावरणीय संकट वैश्विक स्तर पर गंभीर समस्याएं बन चुके हैं, तब औपनिवेशिक भारत के पर्यावरण आंदोलनों का विश्लेषण विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाता है। ये आंदोलन हमें यह संदेश देते हैं कि सतत विकास तभी संभव है जब स्थानीय समुदायों की सक्रिय भागीदारी प्राप्त की जाए। इसके अलावा, यह सोचने की आवश्यकता है कि प्रकृति को केवल आर्थिक संसाधन नहीं, बल्कि जीवन का मूल आधार समझा जाना चाहिए।

संदर्भ सूची

[1] फुलवारिया, सुनीता (2021). भारत में औपनिवेशिक काल का पर्यावरण पर प्रभाव: एक अध्ययन. International Journal of Arts & Education Research, 10(3). https://ijaer.org/admin/uploads/paper/file1/RAr1RldrbFYsyd0HEqIBcQ==1.pdf

[2] गुप्ता, मनीष कुमार (2015). भारतीय पर्यावरण आंदोलन का अध्ययन: एक सामाजिक पहलू एवं भारतीय पर्यावरण आंदोलनों में सफलता और विफलता के निर्धारक कारक। जर्नल ऑफ एडवांसेज एंड स्कॉलरली रिसर्च इन एलाइड एजुकेशन, 10 (20), 0-0. इग्नाइटेड माइंड्स जर्नल्स।

[3] डॉ. मंगलानी, रूपा., एवं चौधरी, सहदेव सिंह. (2015). भारत के पर्यावरण संरक्षण में जन आंदोलनों का योगदान. AIJRA, 9(3A). https://www.ijcms2015.co/file/2024/ajira-vol-9-issue-3a/aijra-vol-9-issue-3-21.pdf

[4] करण, पीपी (1994)। भारत में पर्यावरण आंदोलन। भौगोलिक समीक्षा, ऑनलाइन उपलब्ध: http://www.jstor.org/stable/215779।

[5] नाभी, एसयू (2006)। भारत में पर्यावरण आंदोलन: राज्य और गैर-राज्य अभिकर्ताओं पर उनके प्रभाव का आकलन। इंडिया क्वार्टरली, 62(1), पृ. 123-145.